

वैदिक साहित्य में पर्यावरण संरक्षण का सदेश: एक विश्लेषणात्मक साहित्यिक अध्ययन

वीना रानी, सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, हिसार, हरियाणा

शोध-सार

यह शोध-पत्र वैदिक साहित्य (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद) में निहित पर्यावरण-चेतना का विश्लेषणात्मक साहित्यिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन का आधार ऋग्वेद, अथर्ववेद, शुक्ल यजुर्वेद और प्रमुख उपनिषदों के चयनित पाठ हैं। उत्तरवर्ती स्मृति, पुराण, आयुर्वेद और अर्थशास्त्र की परंपरा को निरंतरता के प्रमाण के रूप में लिया गया है। पद्धति पाठ-विश्लेषण, विषय-वस्तु विश्लेषण और तुलनात्मक व्याख्या पर टिकी है। निष्कर्ष यह है कि वैदिक चिंतन पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और प्राणि-जगत को उपभोग की वस्तु नहीं, सहभागी सत्ता मानता है। इस चिंतन के तीन आधार हैं: ऋत (सृष्टि-व्यवस्था), यज्ञ (आदान-प्रदान का चक्र) और त्याग-पूर्वक भोग (संयम)। तुलनात्मक विश्लेषण में जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लामी और गहन-पारिस्थितिकी परंपराओं से साम्य और भेद दिखाए गए हैं। साहित्य-समीक्षा और आलोचनात्मक दृष्टिकोणों के आधार पर यह भी रेखांकित किया गया है कि वैदिक पर्यावरण-चिंतन मुख्यतः नैतिक-आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत है, आधुनिक अर्थ में तकनीकी संरक्षण-विज्ञान नहीं। आदर्श और व्यवहार के बीच के अंतराल को भी ईमानदारी से स्वीकार किया गया है।

कूट-शब्द: वैदिक साहित्य; पर्यावरण संरक्षण; ऋत; पृथिवी सूक्त; यज्ञ; सतत विकास; तुलनात्मक अध्ययन; पारिस्थितिक चिंतन

1. प्रस्तावना

वैदिक साहित्य भारतीय ज्ञान-परंपरा का आदि-स्रोत है। इसमें मंत्र-संहिताओं के साथ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद ग्रंथ सम्मिलित हैं। साहित्येतिहास के अध्येताओं ने ऋग्वेद को भारोपीय भाषा-परिवार की सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्यिक निधि माना है [1]। हिन्दी में वैदिक साहित्य के इतिहासकारों ने भी इसे केवल कर्मकांड का संग्रह नहीं, बल्कि जीवन, प्रकृति और समाज के समग्र चिंतन का दस्तावेज माना है [2]। इन ग्रंथों की रचना-अवधि के विषय में विद्वानों में मतभेद है, पर सामान्यतः इसे ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य से पहली सहस्राब्दी के आरंभ तक फैला हुआ माना जाता है। इस सुदीर्घ अवधि में रचित वाङ्मय का एक विशिष्ट गुण यह है कि उसमें मनुष्य कभी प्रकृति से अलग खड़ा नहीं दिखता। वह पृथ्वी का पुत्र, जल का आश्रित, वायु का ऋणी और वनस्पतियों का सहचर है।

आज मानवता जिस पर्यावरणीय संकट का सामना कर रही है, वह किसी एक देश या एक क्षेत्र की समस्या नहीं है। जलवायु परिवर्तन पर अंतरसरकारी पैनल की छठी मूल्यांकन रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2011-2020 के दशक में वैश्विक सतह का तापमान 1850-1900 के औसत से लगभग 1.09 अंश सेल्सियस अधिक रहा [3]। इस चेतावनी की पूर्वपीठिका बीसवीं सदी के मध्य में ही बन चुकी थी, जब रेचल कार्सन ने कीटनाशकों के अंधाधुंध उपयोग से उपजे खतरों की ओर विश्व का ध्यान खींचा [4]। मानव-पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (स्टॉकहोम, 1972) ने पहली बार वैश्विक स्तर पर वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए पर्यावरण की रक्षा को मनुष्य का गंभीर उत्तरदायित्व घोषित किया [5]। इसके डेढ़ दशक बाद ब्रंटलैंड आयोग ने सतत विकास की वह प्रसिद्ध परिभाषा दी। उसके अनुसार विकास वही है जो भावी पीढ़ियों की आवश्यकता-पूर्ति की क्षमता को क्षीण किए बिना वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करे [6]।

इसी पृष्ठभूमि में यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है कि क्या प्राचीन धार्मिक-दार्शनिक परंपराओं में पर्यावरण-संरक्षण के लिए उपयोगी नैतिक संसाधन उपलब्ध हैं। लिन व्हाइट जूनियर ने 1967 में तर्क दिया कि पारिस्थितिक संकट की जड़ें पाश्चात्य ईसाई परंपरा के मनुष्य-केंद्रित दृष्टिकोण में खोजी जा सकती हैं। उन्होंने यह भी माना कि समाधान के लिए धर्म और मूल्य-दृष्टि पर नए सिरे से विचार आवश्यक है [7]। इस बहस ने विश्व की धार्मिक परंपराओं, और उनमें हिन्दू परंपरा, के पारिस्थितिक पक्ष के अध्ययन को प्रेरित किया। हार्वर्ड विश्वविद्यालय की धर्म एवं पारिस्थितिकी परियोजना के अंतर्गत प्रकाशित संकलन इसका प्रमुख उदाहरण है [8]।

तथापि इस विमर्श का अधिकांश भाग अंग्रेजी माध्यम में हुआ है, और उसमें वैदिक मूल पाठ का विश्लेषण प्रायः प्रसंगवश आता है। हिन्दी में प्रकृति और पर्यावरण से जुड़े वैदिक संदर्भ सामान्यतः निबंधों, भाषणों और प्रवचनों में मिलते हैं। उनमें प्रायः मंत्र उद्धृत कर दिए जाते हैं, पर सुव्यवस्थित पाठ-विश्लेषण, तुलनात्मक कसौटी और आलोचनात्मक विवेक कम दिखता है। यह शोध-पत्र इसी अंतराल को भरने का प्रयास है। यहाँ वैदिक पाठ को उसके मूल संदर्भ में पढ़ा गया है और उसके पर्यावरणीय संदेश को अन्य परंपराओं की कसौटी पर परखा गया है। साथ ही उसकी सीमाओं को भी उतनी ही स्पष्टता से रखा गया है, जितनी स्पष्टता से उसकी शक्ति को।

2. समस्या-कथन, उद्देश्य, शोध-प्रश्न और परिकल्पना

समस्या-कथन: वैदिक साहित्य में पर्यावरण-संबंधी उल्लेख बिखरे हुए मिलते हैं। कभी उन्हें अतिरंजित ढंग से "प्राचीन पर्यावरण-विज्ञान" कह दिया जाता है, कभी नितांत अनुष्ठानिक पाठ मानकर उपेक्षित कर दिया जाता है। आवश्यकता ऐसे संतुलित अध्ययन की है जो पाठ के भीतर से उसकी पर्यावरणीय दृष्टि को निकाले और उसकी ऐतिहासिक सीमाओं का भी ध्यान रखे।

उद्देश्य:

1. वैदिक साहित्य में पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और प्राणि-जगत से संबंधित प्रमुख पाठों और अवधारणाओं की पहचान और विश्लेषण करना।
2. ऋत, यज्ञ और त्याग-भोग की अवधारणाओं को पर्यावरण-नैतिकता के आधार के रूप में व्याख्यायित करना।
3. वैदिक दृष्टि की तुलना जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लामी और गहन-पारिस्थितिकी परंपराओं से करना।
4. संबंधित शोध-साहित्य की समीक्षा कर उनके निष्कर्षों का समेकन करना और शोध-अंतराल पहचानना।
5. विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचनात्मक मूल्यांकन कर समकालीन प्रासंगिकता स्पष्ट करना।

शोध-प्रश्न:

- वैदिक साहित्य पर्यावरण के किन घटकों को किस रूप में देखता है?
- क्या इन उल्लेखों के पीछे कोई सुसंगत नैतिक-दार्शनिक ढाँचा दिखता है?
- यह ढाँचा अन्य परंपराओं से किन बिंदुओं पर मिलता और किन पर भिन्न होता है?
- पूर्ववर्ती अध्ययनों ने क्या निष्कर्ष दिए हैं और उनमें कौन-से अंतर्विरोध या अंतराल शेष हैं?
- वैदिक संदेश की समकालीन उपयोगिता और सीमा क्या है?

परिकल्पना: वैदिक साहित्य में पर्यावरण-संरक्षण का कोई आधुनिक वैज्ञानिक कार्यक्रम नहीं मिलता। किंतु उसमें एक सुसंगत ब्रह्मांडीय, नैतिक और अनुष्ठानिक ढाँचा मिलता है, जो प्रकृति के प्रति श्रद्धा, संयम और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करता है। इसी ढाँचे में उसकी स्थायी प्रासंगिकता निहित है।

3. शोध-पद्धति

यह अध्ययन विश्लेषणात्मक साहित्यिक शोध की श्रेणी में आता है। इसमें प्रयोगात्मक आँकड़े एकत्र नहीं किए गए। इसकी सामग्री मूल ग्रंथ और उन पर हुआ विद्वत्तापूर्ण कार्य है। पद्धति के तीन चरण रहे हैं।

पहला चरण, पाठ-चयन। प्राथमिक स्रोत के रूप में ऋग्वेद-संहिता का सायण-भाष्य सहित संपादित पाठ [9] और उसका आधुनिक अनुवाद [10] देखा गया। अथर्ववेद के लिए व्हिटनी का अनुवाद [11], शुक्ल यजुर्वेद के लिए ग्रिफिथ का अनुवाद [12] और उपनिषदों के लिए ओलिवेल का संपादित पाठ [13] आधार बने। द्वितीयक स्रोत के रूप में वैदिक वाङ्मय के हिन्दी इतिहास-ग्रंथ [2, 14] और वैदिक देवशास्त्र का प्रामाणिक अध्ययन [15] लिए गए। पाठ-चयन का आधार यह रहा कि वे सूक्त या अंश सीधे पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, वन, प्राणि-जगत, वर्षा या सृष्टि-व्यवस्था से संबंधित हों।

दूसरा चरण, विषय-वस्तु विश्लेषण। चयनित पाठ-इकाइयों को पाँच विषय-वर्गों में रखा गया: भूमि, जल, वायु और अंतरिक्ष, वनस्पति और वन, तथा जीव-जगत्। छठा और सर्वव्यापी वर्ग सृष्टि-व्यवस्था और आचार का है, जिसमें ऋत, यज्ञ और त्याग की धारणाएँ आती हैं। प्रत्येक इकाई में तीन बातें देखी गईं: (क) प्रकृति-तत्त्व को किस रूप में संबोधित किया गया है, (ख) मनुष्य के लिए क्या कर्तव्य या निषेध सुझाया गया है, (ग) उसका तर्क क्या है।

तीसरा चरण, तुलना और आलोचना। इस स्तर पर वैदिक निष्कर्षों को अन्य परंपराओं के पर्यावरण-चिंतन और आधुनिक शोध-निष्कर्षों के साथ रखकर देखा गया। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि कहाँ पाठ से सीधे निष्कर्ष निकलते हैं और कहाँ परवर्ती व्याख्या का योग है।

पाठ-प्रतिदर्श। विश्लेषण मुख्यतः इन इकाइयों पर आधारित है: ऋग्वेद के 1.90, 5.83, 5.84, 7.49, 10.9, 10.97 और 10.146 सूक्त, अथर्ववेद का पृथिवी-सूक्त (12.1), शुक्ल यजुर्वेद के अध्याय 22 और 36 के चयनित मंत्र, ईशावास्य उपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् के चयनित अंश।

शोध-नैतिकता और सावधानियाँ। इस पत्र में सभी संस्कृत उद्धरण मूल पाठ के हैं और उनके हिन्दी भावानुवाद लेखक के अपने हैं। इससे अनुवाद की शब्दावली किसी अन्य के अनुवाद की पुनरावृत्ति नहीं बनती। जहाँ मत किसी अन्य अध्येता का है, वहाँ उसे उसी के नाम से संदर्भ-संख्या देकर दर्ज किया गया है। आधुनिक अर्थ में किसी वैदिक उक्ति को "वैज्ञानिक तथ्य" कहने से बचा गया है, क्योंकि यह कालक्रम-दोष (anachronism) की ओर ले जाता है।

4. संबंधित शोध-साहित्य की समीक्षा

वैदिक और हिन्दू पर्यावरण-चिंतन पर अब तक का कार्य कई धाराओं में बँटा है: दार्शनिक-नैतिक व्याख्या, सामाजिक-पारिस्थितिक इतिहास, आंदोलनों और समुदायों के क्षेत्र-अध्ययन, नारीवादी-समालोचनात्मक विमर्श और परंपरागत जल-प्रबंधन का दस्तावेजीकरण। नीचे प्रत्येक प्रमुख अध्ययन का उद्देश्य, निष्कर्ष और इस शोध के लिए उसका निहितार्थ क्रमशः रखा गया है।

4.1 धार्मिक-दार्शनिक व्याख्या की धारा

चैपल और टकर (सं.) का संकलन [8] हिन्दू परंपरा के पारिस्थितिक पक्ष पर विश्व-स्तर का एक प्रमुख समेकित प्रयास है। इसमें वैदिक, पौराणिक, दार्शनिक और लोक-परंपराओं पर अलग-अलग विद्वानों के निबंध हैं। संकलन का सामान्य निष्कर्ष यह है कि हिन्दू परंपरा में प्रकृति के प्रति पवित्रता-बोध, अहिंसा और संयम के प्रचुर संसाधन हैं, परंतु उनके व्यावहारिक रूपांतरण की चुनौतियाँ

भी हैं। इस शोध के लिए इसका निहितार्थ यह है कि पाठ-आधारित आदर्शों और समकालीन आचरण को अलग-अलग परखना होगा।

द्विवेदी का निबंध [16] इसी संकलन में "धार्मिक पारिस्थितिकी" (धर्म-आधारित पारिस्थितिक नैतिकता) की अवधारणा प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार धर्म को केवल कर्मकांड नहीं, सृष्टि को धारण करने वाला सिद्धांत मानने पर पर्यावरण-संरक्षण को कर्तव्य के रूप में समझा जा सकता है। निबंध वेद, उपनिषद, गीता और पुराणों से ऐसे उद्धरण एकत्र करता है जिनमें प्रकृति-सम्मान, अहिंसा और आत्म-नियंत्रण का उपदेश है। इसकी शक्ति यह है कि यह धर्म-केंद्रित व्याख्या देता है, पर सीमा यह कि यह मुख्यतः आदर्श-निरूपण है और ऐतिहासिक आचरण का मूल्यांकन उसमें सीमित है।

नेल्सन (सं.) का संकलन [17] पवित्र भूगोल, तीर्थ, नदी और स्थान-आधारित अनुष्ठानों के माध्यम से हिन्दू भारत में धर्म और पारिस्थितिकी के संबंध को देखता है। इसके लेखक पृथ्वी को ईश्वर के शरीर के रूप में देखने की परंपरा को रेखांकित करते हैं। साथ ही वे यह भी दिखाते हैं कि "पवित्रता" और "शुद्धता" की धारणाएँ कई बार प्रदूषण की वास्तविक समस्याओं के विरुद्ध बाधा बन जाती हैं। इस संकलन का निष्कर्ष है कि श्रद्धा अपने आप में संरक्षण की गारंटी नहीं है।

कैलिकॉट और एम्स (सं.) का संकलन [18] एशियाई चिंतन-परंपराओं (भारतीय, चीनी, जापानी) में प्रकृति की अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन है। संकलन इस बात को उभारता है कि इन परंपराओं की कई प्रवृत्तियाँ मनुष्य-केंद्रित दृष्टि से भिन्न, अधिक अंतर्संबद्ध प्रकृति-बोध की ओर संकेत करती हैं। साथ ही संपादकीय विवेचना इस चेतावनी के साथ आती है कि दार्शनिक संसाधनों की उपलब्धता से यह नहीं निकाला जा सकता कि संबंधित समाजों का वास्तविक पर्यावरणीय आचरण सदा श्रेष्ठ रहा।

4.2 सामाजिक-पारिस्थितिक इतिहास की धारा

गाडगिल और गुहा [19] ने भारत का पारिस्थितिक इतिहास लिखते हुए दिखाया कि पारंपरिक भारतीय समाज में जाति-आधारित व्यवसाय-विभाजन, धार्मिक निषेधों और स्थानीय नियमों ने संसाधन-उपयोग के अलग-अलग दायरे बनाए। इस व्यवस्था में एक ही संसाधन पर सभी वर्गों की भीड़ नहीं जुटती थी और अति-दोहन पर अंकुश रहता था। इसके साथ लेखकों ने दिखाया कि औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-व्यवस्था ने समुदायों के इन नियंत्रणों को कमजोर किया। इस अध्ययन का निष्कर्ष है कि धार्मिक-सांस्कृतिक नियम पर्यावरण-संरक्षण में तभी कारगर हुए जब वे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे से जुड़े थे।

गाडगिल और वर्तक [20] ने पश्चिमी घाट के क्षेत्र में देव-वनों (sacred groves) का अध्ययन कर बताया कि ये वन अवशिष्ट प्राकृतिक वनस्पति के भंडार हैं और अनेक प्रजातियों की रक्षा करते हैं। उन्होंने इन वनों के तेज़ी से क्षरण पर चिंता जताते हुए इनके संरक्षण की आवश्यकता रेखांकित की। यह अध्ययन दिखाता है कि आस्था-आधारित निषेध वास्तविक जैव-विविधता का संरक्षण कर सकते हैं।

गाडगिल, बर्क्स और फोल्के [21] ने पारंपरिक ज्ञान और जैव-विविधता संरक्षण के संबंध पर विचार करते हुए बताया कि विश्व के अनेक पारंपरिक समाजों में वर्जनाएँ, पवित्र स्थल और संसाधन-उपयोग के नियम संरक्षण के साधन रहे हैं। उन्होंने आधुनिक संरक्षण-नीति में इस ज्ञान के समावेश का पक्ष रखा। इस अध्ययन का महत्त्व यह है कि यह धार्मिक-सांस्कृतिक नियमों को अंधविश्वास मानने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रमाण-आधारित तर्क देता है।

4.3 आंदोलनों, समुदायों और नदियों के क्षेत्र-अध्ययन

रामचंद्र गुहा [22] ने उत्तराखंड के चिपको आंदोलन का ऐतिहासिक अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष यह है कि आंदोलन की जड़ें ग्रामीणों की आजीविका के वन-संसाधनों पर निर्भरता और राज्य की वन-नीति से उपजे असंतोष में थीं। इसलिए इसे केवल "आध्यात्मिक पर्यावरणवाद" कहना अपर्याप्त है। यह अध्ययन इस शोध को याद दिलाता है कि सांस्कृतिक मूल्य और भौतिक हित प्रायः साथ-साथ काम करते हैं।

पंकज जैन [23] ने बिश्नोई और अन्य हिन्दू समुदायों के संदर्भ में दिखाया कि धर्म-आधारित मूल्य-दृष्टि समुदायों के पारिस्थितिक आचरण को प्रेरित करती है। उन्होंने "धर्म" और "पारिस्थितिकी" के बीच संबंध के क्षेत्रीय उदाहरण दिए। इस अध्ययन का निष्कर्ष है कि जहाँ धार्मिक आदर्श दैनिक नियमों और सामुदायिक संस्थाओं से जुड़ जाते हैं, वहाँ उनका संरक्षणात्मक प्रभाव अधिक टिकाऊ होता है।

एली [24] ने वाराणसी में गंगा के संदर्भ में यह दिखाया कि धार्मिक शुद्धता की धारणाएँ और वास्तविक जल-प्रदूषण साथ-साथ चलते रहे हैं। अनेक श्रद्धालु मानते हैं कि गंगा में स्नान को शुद्ध करने की दैवी शक्ति है, इसलिए प्रदूषण को गंभीर समस्या नहीं समझा जाता। अध्ययन ने सरकारी कार्यक्रमों की सीमाओं को भी रेखांकित किया। हैबरमैन [25] ने यमुना पर अपने अध्ययन में भक्ति-परंपरा और नदी की गिरती दशा के बीच के अंतर को उजागर किया। उनका निष्कर्ष है कि धार्मिक आख्यान लोगों को संगठित करने की क्षमता रखते हैं, किंतु ठोस नीति, संस्थागत कार्रवाई और वैज्ञानिक प्रबंधन के बिना वे पर्याप्त नहीं होते।

4.4 नारीवादी-समालोचनात्मक विमर्श

वंदना शिवा [26] ने भारतीय परंपरा की "प्रकृति" (स्त्री-सिद्धांत) की धारणा को पर्यावरण और महिलाओं की भूमिका से जोड़ा और आधुनिक विकास-मॉडल को प्रकृति और स्त्री, दोनों के शोषण का साधन बताया। उनका पक्ष है कि पारंपरिक निर्वाह-अर्थव्यवस्थाओं में स्त्रियों का पर्यावरण से घनिष्ठ संबंध पर्यावरण-संरक्षण का आधार रहा है। इसके विपरीत, बीना अग्रवाल [27] ने इस दृष्टि की आलोचना की। उनका तर्क है कि स्त्री और प्रकृति के बीच किसी सहज, अंतर्निहित संबंध की कल्पना पर्याप्त नहीं है। स्त्रियों का पर्यावरण से संबंध उनकी भौतिक परिस्थितियों, श्रम-विभाजन और संपत्ति-अधिकारों से निर्धारित होता है। यह बहस इस शोध के लिए इसलिए मूल्यवान है कि वह "स्वर्णिम अतीत" के सरल आख्यान को चुनौती देती है।

4.5 परंपरागत जल-प्रबंधन का हिन्दी दस्तावेजीकरण

अनुपम मिश्र [28] ने हिन्दी में देश के विभिन्न भागों की परंपरागत जल-संग्रह संरचनाओं (तालाब, बावड़ी आदि) का सजीव विवरण दिया। उनका निष्कर्ष है कि इन संरचनाओं का निर्माण और रखरखाव समाज की साझा ज़िम्मेदारी था, और आधुनिक अभियांत्रिकी ने इस सामाजिक तंत्र की उपेक्षा कर जल-संकट को बढ़ाया। यह अध्ययन वैदिक जल-सूक्तों की जीवंत निरंतरता का व्यावहारिक प्रमाण देता है, यद्यपि लेखक ने उसे वैदिक पाठ से सीधे जोड़ने का दावा नहीं किया।

4.6 तुलनात्मक आधार-अध्ययन

लिन व्हाइट [7] का निबंध, जिसका उल्लेख पहले हुआ, आज भी पारिस्थितिक-धर्म विमर्श का प्रस्थान-बिंदु है। इसका मुख्य निष्कर्ष यह है कि किसी समाज का आचरण उसकी अंतर्निहित मान्यताओं से निर्देशित होता है, इसलिए संकट का समाधान भी मूल्य-दृष्टि के स्तर पर खोजना होगा। इस निबंध की खुली आलोचना भी हुई है, पर वह वाद-विवाद की ज़मीन तैयार करने में निर्णायक रहा।

4.7 समीक्षा का समेकन और शोध-अंतराल

उपर्युक्त समीक्षा से चार बातें उभरती हैं। पहली, अधिकांश अध्ययन वैदिक साहित्य का संक्षिप्त संदर्भ देते हैं और अपना ध्यान उत्तरवर्ती परंपरा या क्षेत्र-अध्ययन पर केंद्रित रखते हैं। दूसरी, आदर्श और आचरण के बीच अंतर का प्रश्न लगभग सभी गंभीर अध्ययनों में आया है [17, 18, 24, 25]। तीसरी, सांस्कृतिक और भौतिक कारकों को एक-दूसरे का पूरक मानने की प्रवृत्ति प्रबल है [19, 22]। चौथी, हिन्दी माध्यम में वैदिक पाठ-आधारित, तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन की कमी बनी हुई है। यही चौथी बात इस शोध-पत्र का प्रत्यक्ष औचित्य है।

5. वैदिक साहित्य में पर्यावरण-चेतना: पाठ-विश्लेषण

वैदिक साहित्य में "पर्यावरण" जैसा कोई एकल शब्द नहीं मिलता। किंतु पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, जल, वायु, वनस्पति और प्राणी के लिए अलग-अलग सूक्त तथा मंत्र उपलब्ध हैं। इन्हें परस्पर जोड़ने वाला धागा यह विश्वास है कि सृष्टि एक व्यवस्थित, अंतर्संबद्ध समग्र है। इस खंड में प्रत्येक घटक का पाठ-विश्लेषण किया गया है।

5.1 भूमि: "माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः"

अथर्ववेद का द्वादश काण्ड का प्रथम सूक्त, जिसे **पृथिवी-सूक्त** कहा जाता है, वैदिक भू-चेतना का सर्वाधिक विकसित पाठ है। इसमें 63 मंत्र हैं [11]। इस सूक्त का पहला ही मंत्र पृथ्वी को धारण करने वाले तत्त्वों की सूची देता है:

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववेद 12.1.1)

भावानुवाद: सत्य, विराट ऋत, उग्र संकल्प, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ, ये मिलकर पृथ्वी को धारण करते हैं [11]। यहाँ पृथ्वी का आधार केवल भौतिक नहीं, नैतिक और आचरणगत भी बताया गया है। यदि सत्य, संयम और यज्ञ (परस्पर आदान-प्रदान का धर्म) क्षीण हों तो पृथ्वी का धारण भी संकट में आ जाता है। यह एक सूक्ष्म पर्यावरण-नैतिक कथन है। पृथ्वी की स्थिरता को मानवीय आचरण की गुणवत्ता से जोड़ा गया है।

इसी सूक्त का बारहवाँ मंत्र मनुष्य और पृथ्वी के संबंध को माता और पुत्र के रूप में परिभाषित करता है:

*माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपृती॥ (अथर्ववेद 12.1.12)*

भावानुवाद: भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ; पर्जन्य (वर्षा-देव) पिता हैं, वे हमारा पालन करें [11]। इस संबंध की व्याख्या के दो निहितार्थ हैं। पहला, माँ से लेने का अधिकार तो है, पर माँ को क्षति पहुँचाने का नहीं। दूसरा, पर्जन्य को पिता कहकर वर्षा-चक्र को भी पारिवारिक संबंध में गूँथा गया है। मैकडॉनल का अध्ययन दिखाता है कि ऋग्वेद में पृथ्वी प्रायः द्यौ के साथ "द्यावापृथिवी" के युगल रूप में स्तुत है और अकेले पृथ्वी को संबोधित एकमात्र सूक्त 5.84 है [15]। अर्थात् पृथ्वी को आकाश और वर्षा से अलग करके नहीं, संपूर्ण चक्र के एक अंग के रूप में देखा गया है।

भूमि की खुदाई और उसके घावों के प्रति संवेदनशीलता का सबसे मार्मिक उदाहरण यह मंत्र है:

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वारि मा ते हृदयमर्पिपम्॥ (अथर्ववेद 12.1.35)

भावानुवाद: हे भूमि, मैं तुम्हारा जो भाग खोदूँ, वह शीघ्र फिर भर जाए; हे सबको पोषण देने वाली, मैं तुम्हारे मर्म और हृदय को चोट न पहुँचाऊँ [11]। यह पर्यावरण-नैतिकता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहाँ कृषि, भवन-निर्माण या कूप-खनन जैसी आवश्यक क्रियाओं को नकारा नहीं गया, बल्कि उनके साथ पुनर्भरण की कामना और अति-आघात से बचने का संकल्प जोड़ा गया है। आधुनिक शब्दावली में इसे "न्यूनतम हस्तक्षेप" और "पुनर्स्थापन" के सिद्धांत की पूर्वछाया कहा जा सकता है, बशर्ते हम यह स्पष्ट रखें कि यह काव्यात्मक प्रार्थना है, कोई तकनीकी नियम नहीं।

इसी सूक्त के 11वें मंत्र में पर्वत, हिमालय और वनों को पृथ्वी का आनंददायक अंग माना गया है:

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु। (अथर्ववेद 12.1.11)

भावानुवाद: हे पृथ्वी, तुम्हारे पर्वत, हिमाच्छादित शिखर और अरण्य हमारे लिए सुखदायक हों [11]। यह कामना पर्वत और वन को भूमि की शोभा नहीं, उसकी सुखदायक संपदा मानती है। वैदिक दृष्टि में सुख का स्रोत नष्ट करके नहीं, संजो कर प्राप्त होता है।

वैदिक साहित्य के हिन्दी इतिहासकार भी पृथिवी-सूक्त को राष्ट्र-चेतना और प्रकृति-चेतना दोनों का संगम मानते हैं [2, 14]। अतः निष्कर्ष यह है कि वैदिक भू-दृष्टि में भूमि केवल निर्जीव संसाधन नहीं, पोषण देने वाली सत्ता है, और उसके साथ संबंध कृतज्ञता, मर्यादा और पुनर्भरण की कामना पर आधारित है।

5.2 जल: "आपो हि ष्ठा मयोभुवः"

जल के लिए वैदिक साहित्य में "आपः" शब्द विशेष महत्त्व रखता है। ऋग्वेद में जल-देवताओं को समर्पित अनेक सूक्त हैं, जैसे 7.49, 10.9 और 10.30 [10, 15]। 10.9 का प्रारंभिक मंत्र जल की कल्याणकारी, पोषक और ऊर्जा-दायक भूमिका को व्यक्त करता है:

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जं दधातना
महे रणाय चक्षसो॥ (ऋग्वेद 10.9.1)

भावानुवाद: हे जलो, तुम सुखदायी हो; हमें ऊर्जा और महान, रमणीय दृष्टि प्रदान करो [10]। यहाँ जल केवल पेय नहीं, ऊर्जा और दृष्टि का स्रोत है। जल के प्रति यह सम्मान-भाव उसके अपवित्र किए जाने की कल्पना को ही अनुचित बना देता है।

उत्तरवैदिक और स्मृति-परंपरा में यही भाव आचार-निषेध बन जाता है। मनुस्मृति में स्पष्ट निर्देश है:

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा धीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥ (मनुस्मृति 4.56)

भावानुवाद: जल में मल-मूत्र, थूक, अपवित्र वस्तु, रक्त या विष नहीं डालना चाहिए [29, 30]। ध्यान देने योग्य है कि यह निषेध जल-प्रदूषण के कारणों को प्रत्यक्ष लक्षित करता है। यह अलग बात है कि मनुस्मृति वैदिक संहिता नहीं, वैदिक परंपरा की उत्तरवर्ती

स्मृति है। इसीलिए इसे यहाँ "निरंतरता के साक्ष्य" के रूप में लिया गया है, वैदिक पाठ का अंश मानकर नहीं। ओलिवेल का आधुनिक अनुवाद इस श्लोक और आसपास के आचार-निषेधों को स्पष्ट रूप से जल-शुचिता से जोड़कर पढ़ता है [29]।

जल के प्रति इस श्रद्धा और उसके संरक्षण का व्यावहारिक विस्तार परंपरागत जल-संरचनाओं में दिखता है। अनुपम मिश्र के दस्तावेजीकरण के अनुसार तालाब और बावड़ी जैसी संरचनाओं का निर्माण और रखरखाव समाज की सामूहिक जिम्मेदारी माना जाता था [28]। यह कहना कठिन है कि इनमें से प्रत्येक संरचना सीधे वैदिक पाठ से प्रेरित थी। किंतु यह कहा जा सकता है कि जल को पवित्र और सामूहिक धरोहर मानने की जो मानसिकता वैदिक सूक्तों में मिलती है, वही इन संस्थाओं के लिए अनुकूल सांस्कृतिक भूमि थी।

5.3 वायु और अंतरिक्ष: "मधु वाता ऋतायते"

वैदिक दृष्टि में वायु, अंतरिक्ष और वातावरण अलग-अलग "समस्याएँ" नहीं, एक ही जीवन-तंत्र के अंग हैं। ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध सूक्त इस समग्र दृष्टि को प्रकट करता है:

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीनः सन्त्वोषधीः॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ (ऋग्वेद 1.90.6-8)

भावानुवाद: ऋत के अनुगामी के लिए वायु मधुर बहे, नदियाँ मधुरता बरसाएँ, औषधियाँ हमारे लिए मधुमय हों; रात और उषा मधुर हों, धरती की धूल मधुर हो, द्युलोक हमारे लिए मधुर पिता हो; वनस्पति और सूर्य हमारे लिए मधुमान हों, गौएँ हमारे लिए माधुर्य से भरी हों [10]। यह अंश अकेले पर्याप्त प्रमाण है कि वैदिक ऋषि वायु, जल, वनस्पति, मिट्टी, प्रकाश और पशुधन को एक ही पारिस्थितिक तंत्र के घटक के रूप में देखते हैं। ध्यान देने योग्य है कि यहाँ "मधुरता" का आग्रह ऋतायते, अर्थात् ऋत के पालन करने वाले, के लिए है। पर्यावरण का माधुर्य नैतिक व्यवस्था के पालन से जुड़ा है।

शुक्ल यजुर्वेद का शान्ति-पाठ इस समग्रता को शांति की कामना में बदल देता है:

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ (यजुर्वेद 36.17)

भावानुवाद: द्युलोक, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ और सभी देव-शक्तियाँ शांत हों; सर्वत्र शांति हो, और वह शांति मुझे प्राप्त हो [12]। इस मंत्र की सबसे विशिष्ट बात यह है कि शांति की माँग किसी एक मनुष्य-समुदाय के लिए नहीं, सृष्टि के प्रत्येक घटक के लिए है। पर्यावरण की अशांति (असंतुलन, प्रदूषण, आपदा) को शांति के विपरीत माना गया है, और शांति सब घटकों में एक साथ अपेक्षित है।

उत्तरवैदिक आयुर्वेद-साहित्य इस समग्रता को अधिक व्यावहारिक रूप देता है। चरक संहिता के विमान स्थान में "जनपदोद्ध्वंस" (जनपद के विनाश) के प्रसंग में महामारी के कारणों की चर्चा है। वहाँ वायु, जल, देश (भूमि) और काल, इन चारों की विकृति को सामूहिक रोग-प्रकोप का प्रधान कारण माना गया है [31, 32]। यह संकेत उल्लेखनीय है कि प्राचीन चिकित्सा-चिंतन ने पर्यावरण की गुणवत्ता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के बीच सीधा संबंध पहचाना था। यह भी स्पष्ट रहे कि चरक संहिता वैदिक संहिता नहीं, वैदिक परंपरा से जुड़ी परवर्ती ज्ञान-शाखा है; इसे यहाँ निरंतरता के प्रमाण के रूप में रखा गया है।

5.4 वनस्पति और वन: अरण्यानी, ओषधि और वृक्ष

ऋग्वेद के दशम मण्डल में **अरण्यानी सूक्त** (10.146) वन की देवी को संबोधित एक अद्भुत काव्य है। इसमें वन को सुगंधयुक्त, अन्न-समृद्ध और पशुओं की माता के रूप में चित्रित किया गया है:

*आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ (ऋग्वेद 10.146.6)*

भावानुवाद: मैं उस अरण्यानी की स्तुति करता हूँ जो अंजन जैसी सुगंध वाली है, सुरभि है, जहाँ बिना कृषकों के भी प्रचुर अन्न है, और जो मृगों की माता है [10]। मैकडॉनल इस सूक्त को वन की देवी के एकमात्र स्वतंत्र वैदिक चित्रण के रूप में रेखांकित करते हैं [15]। इसमें वन को भय के स्थान के रूप में भी चित्रित किया गया है और पोषण के स्रोत के रूप में भी। यह दुहरी दृष्टि वन के प्रति सम्मान का आधार बनती है। वन से भय तो है, पर उसके प्रति कृतज्ञता भी है।

ओषधियों का सूक्त (ऋग्वेद 10.97) वनस्पति-जगत को उपचार और जीवन का स्रोत बताता है। उसका प्रथम मंत्र ओषधियों को देवों से भी पूर्व उत्पन्न बताता है [10]। इसी सूक्त का एक अंश ओषधियों के पारस्परिक संवाद की कल्पना करता है:

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा॥ (ऋग्वेद 10.97.22)

भावानुवाद: ओषधियाँ अपने राजा सोम के साथ परस्पर संवाद करती हैं [10]। यह काव्यात्मक कथन वनस्पतियों को निर्जीव पदार्थ नहीं, संवादशील प्राणि-सदृश सत्ता के रूप में देखने की दृष्टि प्रकट करता है।

उपनिषदों में वनस्पतियों को जीवन-युक्त मानने की धारणा दार्शनिक रूप लेती है। छान्दोग्य उपनिषद् (6.11) वृक्ष के उदाहरण से समझाता है कि जब जीव किसी शाखा को छोड़ देता है तो वह शाखा सूख जाती है, अर्थात् वृक्ष जीव से युक्त है [13]। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रसिद्ध उत्पत्ति-श्रृंखला भी पर्यावरण-चिंतन की दृष्टि से रोचक है:

*तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।
ओषधीभ्योऽन्नम्॥ (तैत्तिरीय उपनिषद् 2.1.1)*

भावानुवाद: उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ और ओषधियों से अन्न [13]। यह क्रम पाँच महाभूतों के माध्यम से अन्न तक पहुँचता है, और मनुष्य का पोषण इसी श्रृंखला पर टिका है। इसका अर्थ यह है कि जल, पृथ्वी या वनस्पति का क्षरण मनुष्य के अन्न-आधार का ही क्षरण है।

उत्तरवर्ती स्मृति, इतिहास और पुराण साहित्य में यही भाव आचार-निषेध और पुण्य-कर्म के रूप में दृढ़ होता गया। मनुस्मृति में फलदार वृक्षों, झाड़ियों, लताओं और पुष्पित बेलों को काटने पर प्रायश्चित्त-स्वरूप मंत्र-जप का विधान मिलता है (11.142) [29, 30]। उसी ग्रंथ में वनस्पतियों के भीतर अंतःसंज्ञा, अर्थात् आंतरिक चेतना और सुख-दुःख के अनुभव, की स्वीकृति भी है:

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः। (मनुस्मृति 1.49)

भावानुवाद: ये (वृक्ष आदि) भीतर से चेतन हैं और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं [29]। महाभारत के मोक्षधर्म-पर्व में भृगु और भरद्वाज का संवाद वृक्षों में इंद्रियों और चेतना की विस्तृत चर्चा करता है [33]। मत्स्य पुराण की एक प्रसिद्ध उक्ति वृक्षारोपण की महिमा को इस प्रकार व्यक्त करती है:

*दशकूपसमा वापी दशवापीसमो हृदः।
दशहृदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥ (मत्स्य पुराण 154.512)*

भावानुवाद: एक बावड़ी दस कुओं के बराबर है, एक तालाब दस बावड़ियों के बराबर, एक पुत्र दस तालाबों के बराबर, और एक वृक्ष दस पुत्रों के बराबर [34]। यह उक्ति, आदर्श के रूप में ही सही, वृक्ष को सर्वोच्च सामाजिक उपकार का दर्जा देती है। पुराण वैदिक संहिताओं से बहुत बाद के हैं, अतः इसे भी परंपरा की निरंतरता के प्रमाण के रूप में ही लिया गया है।

इसके आगे चलकर वनस्पतियों के वैज्ञानिक-व्यावहारिक प्रबंधन के ग्रंथ भी रचे गए। सुरपाल के वृक्षायुर्वेद में वृक्षों के रोपण, पोषण, रोग-उपचार और स्थान-चयन का विवरण मिलता है [35]। वराहमिहिर की बृहत्संहिता के "वृक्षायुर्वेद" अध्याय में भी वृक्ष-रोपण और देखभाल की पद्धतियाँ बताई गई हैं [36]। ये ग्रंथ वैदिक चेतना के तकनीकी विकास का संकेत देते हैं। पर यह ध्यान रखना होगा कि ये कालक्रम में वैदिक साहित्य से बहुत पीछे के हैं, और इनसे वैदिक काल की कृषि-तकनीक के बारे में निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

5.5 जीव-जगत: "मित्रस्य मा चक्षुषा"

प्राणि-जगत के प्रति वैदिक दृष्टि अहिंसा की परवर्ती कठोर अवधारणा से पूर्व की स्थिति की सूचक है। वैदिक यज्ञों में पशु-बलि का प्रचलन वैदिक समाज की एक ऐतिहासिक सच्चाई है, और इसे छिपाना शोध-ईमानदारी के प्रतिकूल होगा। फिर भी संहिताओं में सह-अस्तित्व और मैत्री-भाव के सशक्त स्वर मिलते हैं। शुक्ल यजुर्वेद का यह मंत्र सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टि की कामना करता है:

*मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥ (यजुर्वेद 36.18)*

भावानुवाद: सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, और मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ [12]। इसमें पारस्परिकता है। मैत्री एकतरफ़ा उपदेश नहीं, दोनों ओर की अपेक्षा है। ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम मंत्र इस दृष्टि को दार्शनिक आधार देता है:

*ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ (ईशावास्य उपनिषद् 1)*

भावानुवाद: इस गतिशील जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है। इसलिए त्याग-भाव से भोगो और किसी के धन का लोभ मत करो [13]। इस मंत्र में तीन बातें साथ-साथ हैं: (क) समस्त सृष्टि पवित्र और ईश्वर-व्याप्त है; (ख) भोग निषिद्ध नहीं, पर उसका आधार त्याग, अर्थात् संयम और अनासक्ति, है; (ग) "किसी के धन" का लोभ न करना, जिसमें प्राणि-जगत, आगामी पीढ़ियाँ और सम्पूर्ण पारिस्थितिक समुदाय भी समाहित माने जा सकते हैं। यह अंतिम अर्थ व्याख्या-प्रधान है और मूल पाठ का सीधा तात्पर्य नहीं। किंतु पाठ इस व्याख्या के प्रति खुला अवश्य है।

5.6 ऋत, यज्ञ और पारिस्थितिक चक्र

वैदिक पर्यावरण-चिंतन की सबसे केंद्रीय अवधारणाएँ ऋत और यज्ञ हैं। ऋत वह ब्रह्मांडीय व्यवस्था है जिसके अनुसार सूर्य उदय होता है, ऋतुएँ आती हैं, नदियाँ बहती हैं और वर्षा होती है। पृथिवी-सूक्त के पहले मंत्र में, जैसा ऊपर देखा गया, ऋत को पृथ्वी के धारकों में गिना गया है [11]। काणे के धर्मशास्त्र के इतिहास में ऋत से "धर्म" की परवर्ती अवधारणा के विकास का जो सूत्र दिखाया गया है, वह इस संदर्भ में उपयोगी है [38]। ऋत से धर्म तक का यह विकास बताता है कि प्राकृतिक व्यवस्था और नैतिक व्यवस्था को अलग-अलग नहीं, एक ही सातत्य के दो छोर माना गया।

यज्ञ का अर्थ केवल अग्नि में आहुति देना नहीं है, बल्कि आदान-प्रदान का व्यापक चक्र है। मानव देवों को और देव मानव को कुछ देते हैं। इस दार्शनिक विस्तार को गीता ने स्पष्ट किया है, जो वैदिक यज्ञ-भावना की परवर्ती प्रस्तुति है:

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (भगवद्गीता 3.16)

भावानुवाद: इस प्रकार प्रवर्तित (सृष्टि के) चक्र का जो अनुसरण नहीं करता, वह इंद्रियों में रमने वाला पापी जीवन जीता हुआ व्यर्थ ही जीता है [37]। इस श्लोक का पर्यावरणीय पाठ यह है कि जो व्यक्ति प्रकृति से लेता ही लेता है और लौटाता कुछ नहीं, वह चक्र को तोड़ता है। जो आदान-प्रदान का यह चक्र चलाता है, वह पोषक भूमिका निभाता है। यज्ञ की धारणा को "पुनर्चक्रण" (recycling) और "प्रतिदान" के सिद्धांत के रूपक के रूप में पढ़ना उचित है, पर उसे उन्हीं का पर्याय कहना अति-सरलीकरण होगा।

कुछ मंत्र यज्ञ को प्रत्यक्ष कृषि-वर्षा से जोड़ते हैं। शुक्ल यजुर्वेद का एक मंत्र प्रार्थना करता है:

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। (यजुर्वेद 22.22)

भावानुवाद: हमारी कामना के अनुसार बार-बार वर्षा हो, और हमारी औषधियाँ (वनस्पतियाँ) फलों से युक्त होकर पकें [12]। इस मंत्र में वर्षा और फसल का संबंध स्पष्ट है। इसमें अधिक वर्षा की माँग नहीं, "यथेष्ट और समयोचित" वर्षा की कामना है, जो कृषि-आधारित समाज में संतुलन का प्रतीक है।

5.7 त्याग-पूर्वक भोग और संयम की नीति

पूर्वोक्त विश्लेषण से एक सामान्य नैतिक-सूत्र निकलता है, जिसे "त्याग-पूर्वक भोग" कहा जा सकता है। यह सूत्र ईशावास्य में प्रत्यक्ष है, और गीता के "यज्ञ-शिष्ट" भोजन की धारणा में उसका विस्तार मिलता है [13, 37]। इसका आशय प्रकृति-उपयोग का निषेध नहीं, बल्कि उसकी मर्यादा है। आधुनिक उपभोक्तावादी अर्थव्यवस्था के संदर्भ में यह सूत्र "पर्याप्तता" (sufficiency) के दर्शन से मेल खाता है, जो सतत विकास की बहस में अब गंभीरता से लिया जाने लगा है [6]।

5.8 उत्तरवैदिक निरंतरता: नीति और शासन

वैदिक चेतना के परवर्ती विकास का एक रोचक पक्ष राज्य-नीति में दिखता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वन-प्रबंधन और उसके आर्थिक-प्रशासनिक पक्ष की चर्चा मिलती है। द्वितीय अधिकरण में द्रव्य-वन और हस्ति-वन के संरक्षण, वन-अधिकारियों की नियुक्ति और वन-उपज के उपयोग के नियम दिए गए हैं [39]। इसी ग्रंथ में कोष्ठागार के प्रसंग में वर्षामापन का उल्लेख भी है। ये प्रमाण बताते

हैं कि परवर्ती भारतीय राज्य-चिंतन में पर्यावरणीय पक्ष प्रशासन का अंग बन चुका था। पर यह अर्थशास्त्र की परंपरा है, वैदिक संहिताओं की नहीं, अतः इसे भी निरंतरता की दृष्टि से ही लिया जाना चाहिए।

पौराणिक साहित्य में पृथु-दोहन की कथा भी इसी संदर्भ में उल्लेखनीय है। विष्णु पुराण में वर्णन है कि पृथ्वी को गौ का रूप धारण कर भागते देख राजा पृथु ने उसका पीछा किया, और फिर उसके प्रसन्न होने पर विभिन्न वर्गों ने उससे अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तु दुही [40]। इस कथा का पर्यावरणीय पाठ यह है कि पृथ्वी से "दोहन" संभव है, पर उतना ही जितना गाय से दूध लिया जाता है, अर्थात् उसका पोषण करते हुए, उसे नष्ट किए बिना। यह कथा पौराणिक काल की देन है, वैदिक संहिता की नहीं, पर उसका बीज वैदिक भू-मातृत्व की धारणा में देखा जा सकता है।

6. तुलनात्मक विश्लेषण

पर्यावरण-चिंतन की दृष्टि से वैदिक साहित्य की विशिष्टता तभी स्पष्ट होती है जब उसकी तुलना अन्य परंपराओं से की जाए। यहाँ पाँच परंपराओं और एक आधुनिक दार्शनिक धारा को लिया गया है।

6.1 जैन परंपरा। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का प्रसिद्ध सूत्र "परस्परपग्रहो जीवानाम्" (5.21) जीवों के पारस्परिक उपकार की बात करता है [41]। जैन परंपरा की अहिंसा वैदिक परंपरा की तुलना में अधिक कठोर और सुव्यवस्थित है, क्योंकि उसमें वनस्पति और सूक्ष्म जीवों तक को अहिंसा के दायरे में लिया गया है। साम्य यह है कि दोनों जीवों के अंतर्संबंध को स्वीकार करते हैं। भेद यह है कि वैदिक परंपरा में अनुष्ठानिक पशु-बलि का ऐतिहासिक स्थान रहा है, जबकि जैन परंपरा उसे पूर्णतः अस्वीकार करती है।

6.2 बौद्ध परंपरा। टकर और विलियम्स के संकलन में बौद्ध परंपरा के पारिस्थितिक संसाधनों का व्यापक अध्ययन है, जिसमें प्रतीत्यसमुत्पाद (परस्पर-निर्भर उत्पत्ति) और करुणा जैसी अवधारणाओं को केंद्र में रखा गया है [42]। वैदिक ऋत और बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद दोनों अंतर्संबद्धता की बात करते हैं। किंतु वैदिक दृष्टि में सृष्टि-व्यवस्था एक दैवी-ब्रह्मांडीय आधार पर टिकी है, जबकि बौद्ध दृष्टि में अंतर्संबंध कारण-कार्य की श्रृंखला के रूप में समझा जाता है।

6.3 ईसाई परंपरा। लिन व्हाइट की आलोचना [7] के संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि ईसाई विद्वानों के एक पक्ष ने "प्रभुत्व" (dominion) की अवधारणा को "अभिरक्षा" (stewardship) के रूप में पुनर्व्याख्यायित किया है। हेसल और रूथर के संकलन में इस पुनर्व्याख्या के अनेक रूप देखे जा सकते हैं [43]। वैदिक दृष्टि से तुलना करें तो वैदिक "माता भूमिः" की धारणा में पृथ्वी के साथ पारिवारिक संबंध अधिक स्पष्ट है, जबकि अभिरक्षक की धारणा में मनुष्य और सृष्टि के बीच स्वामी-सेवक या न्यासी-संपत्ति का संबंध बना रहता है।

6.4 इस्लामी परंपरा। फोल्ट्स, डेनी और बहारुद्दीन के संकलन में इस्लामी परंपरा की अवधारणाओं, जैसे खलीफ़ा (प्रतिनिधि/न्यासी), मीज़ान (संतुलन) और अमानत (न्यास), का पारिस्थितिक पाठ प्रस्तुत है [44]। वैदिक ऋत और इस्लामी मीज़ान दोनों संतुलन की अवधारणाएँ हैं। भेद यह है कि इस्लामी दृष्टि में संतुलन एकेश्वरवादी सृष्टिकर्ता की इच्छा से निर्धारित है, जबकि वैदिक दृष्टि में ऋत देवताओं का भी विधान है।

6.5 गहन पारिस्थितिकी। अर्ने नेस ने 1973 में उथली और गहन पारिस्थितिकी का भेद किया। उनके अनुसार गहन पारिस्थितिकी प्रकृति के आंतरिक मूल्य और जीवन-रूपों की समानता पर बल देती है [45]। ऐल्डो लियोपोल्ड की "भू-नीति" (land ethic) समुदाय की सीमा को मिट्टी, जल, पौधों और पशुओं तक बढ़ाती है [46]। वैदिक पृथिवी-सूक्त और शान्ति-पाठ की दृष्टि इन आधुनिक विचारों से कई बिंदुओं पर मेल खाती है, जैसे प्रकृति का आंतरिक मूल्य, सभी घटकों की शांति की कामना और समुदाय की व्यापक

परिभाषा। पर मूलभेद यह है कि वैदिक दृष्टि किसी दार्शनिक अवधारणा के रूप में नहीं, काव्य, प्रार्थना और अनुष्ठान के रूप में व्यक्त हुई है।

6.6 तुलनात्मक निष्कर्ष। तुलनात्मक अध्ययन के कई संकलन दिखाते हैं कि विश्व की लगभग सभी प्रमुख परंपराओं में प्रकृति-संरक्षण के लिए नैतिक संसाधन उपलब्ध हैं, और सभी में आदर्श और आचरण का अंतर भी रहा है [47]। वैदिक साहित्य की तीन विशेषताएँ तुलनात्मक दृष्टि से उभरती हैं। पहली, पृथ्वी, जल, वायु और वनस्पति के लिए स्वतंत्र काव्य-सूक्तों की प्रचुरता। दूसरी, ऋतु जैसी अवधारणा जो प्राकृतिक और नैतिक व्यवस्था को एक करती है। तीसरी, "त्याग-पूर्वक भोग" की नीति जो उपभोग को अस्वीकार न करते हुए उसे मर्यादित करती है।

7. तुलनात्मक शोध-आँकड़े और व्यवहारिक साक्ष्य

इस खंड में पाठ-आधारित निष्कर्षों को उपलब्ध आँकड़ों और क्षेत्र-प्रमाणों के साथ रखकर देखा गया है।

7.1 पाठ-आधारित आँकड़े। इस अध्ययन के पाठ-प्रतिदर्श (खंड 3) में ऋग्वेद के सात सूक्त, अथर्ववेद का एक पूरा काण्ड-सूक्त (63 मंत्र), यजुर्वेद के चयनित मंत्र और तीन उपनिषदों के अंश हैं। ऋग्वेद में पृथ्वी को अकेले संबोधित सूक्त एक (5.84), वन-देवी का सूक्त एक (10.146), ओषधि-सूक्त एक (10.97) और पर्जन्य के सूक्त तीन (5.83, 7.101, 7.102) हैं [15]। जल-देवताओं के सूक्त कई हैं [10, 15]। इनकी संख्या ऋग्वेद के समग्र सूक्त-संख्या (लगभग एक हजार) के अनुपात में कम है, पर प्रकृति-तत्त्वों का उल्लेख असंख्य स्थलों पर उपमा, आह्वान और प्रार्थना के रूप में बिखरा है। इसलिए केवल स्वतंत्र सूक्तों की गिनती वैदिक प्रकृति-चेतना की सीमा नहीं मानी जा सकती।

7.2 वन-आच्छादन के समकालीन आँकड़े। भारत वन सर्वेक्षण की 2021 की रिपोर्ट के अनुसार देश का कुल वन और वृक्ष आच्छादन लगभग 80.9 मिलियन हेक्टेयर है, जो भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 24.62 प्रतिशत है; इसमें वन-आच्छादन लगभग 21.71 प्रतिशत और वृक्ष-आच्छादन लगभग 2.91 प्रतिशत है [48]। राष्ट्रीय वन नीति (1988) का लक्ष्य देश के एक-तिहाई भू-भाग (33 प्रतिशत) पर वन और वृक्ष आच्छादन का रहा है। इस आँकड़े का निहितार्थ यह है कि आदर्श और वास्तविकता के बीच अंतर आज भी बना हुआ है, और परंपरागत मूल्य अपने-आप पर्याप्त नहीं हैं।

7.3 देव-वनों का साक्ष्य। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी द्वारा प्रकाशित सर्वेक्षण में देश के विभिन्न राज्यों के लगभग 13,720 देव-वनों का दस्तावेजीकरण हुआ [49]। यह संख्या दर्ज किए गए वनों की है, और अनेक अध्ययन बताते हैं कि वास्तविक संख्या इससे कहीं अधिक हो सकती है, क्योंकि अनेक छोटे और स्थानीय पवित्र वन औपचारिक अभिलेख में नहीं आए। पश्चिमी घाट के अध्ययन में भी इन वनों को अवशिष्ट प्राकृतिक वनस्पति का महत्वपूर्ण भंडार पाया गया [20]। यह साक्ष्य दिखाता है कि आस्था-आधारित संरक्षण-प्रथाएँ जैव-विविधता के लिए वास्तविक मूल्य रखती हैं, और यह भी कि वे दबाव में हैं।

7.4 समुदाय-आधारित उदाहरण। बिश्नोई समुदाय की परंपरा में वृक्ष-रक्षा को धार्मिक कर्तव्य माना जाता है, और परंपरागत वृत्तांतों के अनुसार 1730 में खेजड़ली में वृक्षों की रक्षा के लिए 363 लोगों के बलिदान की कथा प्रचलित है [23]। यह वृत्तांत परंपरा के भीतर सुदृढ़ है, पर इसकी ऐतिहासिक विस्तार-सूचनाओं में स्रोतों के बीच भिन्नता संभव है, इसलिए इसे "परंपरागत वृत्तांत" के रूप में ही रखा गया है। चिपको आंदोलन के विश्लेषण में सांस्कृतिक और आर्थिक दोनों कारकों की भूमिका दिखी [22]। दोनों उदाहरण बताते हैं कि जब धार्मिक-सांस्कृतिक मूल्य और स्थानीय आजीविका के हित एक ही दिशा में हों, तब संरक्षण की संभावना अधिक रहती है।

7.5 वैश्विक संदर्भ वैश्विक तापमान में लगभग 1.09 अंश की वृद्धि [3] उस पैमाने की ओर संकेत करती है जिस पर मानव-हस्तक्षेप ने पारिस्थितिक तंत्र को प्रभावित किया है। यह पैमाना प्राचीन कृषि-आधारित समाज की कल्पना से बाहर था। इसलिए वैदिक साहित्य से आधुनिक जलवायु-संकट का समाधान सीधे निकालने की अपेक्षा अनुचित होगी। उससे मिलने वाली सीख मूल्य-दृष्टि की है, तकनीकी समाधान की नहीं।

8. विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण

किसी भी प्रामाणिक शोध के लिए आवश्यक है कि विषय को केवल अनुकूल दृष्टि से नहीं, कई कोणों से परखा जाए। यहाँ छह दृष्टिकोण लिए गए हैं।

8.1 पारिस्थितिक-वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस दृष्टि से देखने पर वैदिक साहित्य में जल, वायु, भूमि और वनस्पति के अंतर्संबंध की सहज समझ दिखती है। तैत्तिरीय उपनिषद् की आकाश से अन्न तक की श्रृंखला और ऋग्वेद 1.90 का समन्वित माधुर्य-चित्र पारिस्थितिक तंत्र की समग्रता का काव्यात्मक बोध देते हैं [10, 13]। किंतु इसमें आधुनिक अर्थ की प्रयोग-आधारित पद्धति या मात्रात्मक निगरानी नहीं है। इसलिए इसे "पूर्व-वैज्ञानिक पारिस्थितिक अंतर्दृष्टि" कहना अधिक संगत है, "वैज्ञानिक पारिस्थितिकी" कहना नहीं।

8.2 नैतिक-दार्शनिक दृष्टिकोण यह वैदिक साहित्य की सबसे मजबूत भूमि है। "माता भूमि:", "मित्रस्य चक्षुषा" और "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" जैसे सूत्र मनुष्य को प्रकृति का स्वामी नहीं, सहभागी और उत्तरदायी सदस्य बनाते हैं [11, 12, 13]। इस दृष्टि से वैदिक पर्यावरण-चिंतन नैतिकता के स्तर पर आज भी सार्थक है, और इसकी तुलना गहन पारिस्थितिकी और भू-नीति जैसे आधुनिक विचारों से की जा सकती है [45, 46]।

8.3 सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण गाडगिल और गुहा का अध्ययन सिखाता है कि धार्मिक-सांस्कृतिक नियम अकेले नहीं, सामाजिक संरचना और संसाधन-उपयोग की व्यवस्था के साथ मिलकर काम करते हैं [19]। यह दृष्टि इस पर ध्यान दिलाती है कि जाति-आधारित व्यवसाय-विभाजन जैसी व्यवस्थाओं ने जहाँ संसाधन-उपयोग को नियंत्रित किया, वहीं सामाजिक असमानता को भी बनाए रखा। इसलिए पारंपरिक संरक्षण-व्यवस्थाओं का मूल्यांकन उनके सामाजिक मूल्य के साथ करना आवश्यक है, केवल पारिस्थितिक परिणाम के आधार पर नहीं।

8.4 आलोचनात्मक (आदर्श बनाम आचरण) दृष्टिकोण एली और हैबरमैन के अध्ययन दिखाते हैं कि जल के प्रति धार्मिक श्रद्धा के बावजूद गंगा और यमुना की दुर्दशा हुई [24, 25]। इससे स्पष्ट है कि वैदिक-हिन्दू मूल्यों की प्रशंसा के साथ उनके व्यावहारिक क्रियान्वयन की विफलता को भी दर्ज करना होगा। इस आलोचना को नज़रअंदाज़ करने वाला कोई भी अध्ययन प्रचार बन जाएगा, शोध नहीं।

8.5 नारीवादी दृष्टिकोण वंदना शिवा की "प्रकृति" और स्त्री-सिद्धांत की व्याख्या [26] वैदिक "माता भूमि:" की धारणा से सहज जुड़ती है। किंतु अग्रवाल की आलोचना [27] इस पर सावधान करती है कि स्त्री और प्रकृति के बीच सीधा तादात्म्य मान लेना पर्याप्त नहीं। इस शोध के लिए निहितार्थ यह है कि "माता भूमि:" को एक सांस्कृतिक रूपक के रूप में तो पढ़ा जा सकता है, पर उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि वैदिक समाज में स्त्रियों की भूमिका स्वतः पर्यावरण-संरक्षण की थी।

8.6 पाठ-आलोचनात्मक और भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण वैदिक शब्दों के अर्थ पर परंपरागत भाष्य-परंपरा (जैसे सायण) और आधुनिक भाषाशास्त्रीय अनुवादों के बीच मतभेद रहे हैं [9, 10]। कई बार आधुनिक "पर्यावरणीय" पाठ किसी मंत्र में वह अर्थ पढ़ लेता है जो उसके मूल संदर्भ में नहीं था। उदाहरणार्थ, कृषि-वर्षा की कामना या यज्ञ-प्रार्थना को सीधे "पर्यावरण-संरक्षण की नीति" कहना

अतिशयोक्ति होगी। इसलिए इस शोध में हर स्थल पर "व्याख्या" और "पाठ का सीधा अर्थ" के बीच अंतर बनाए रखने का प्रयास किया गया है।

8.7 दृष्टिकोणों का समेकन। छहों दृष्टियों को साथ रखने पर एक संतुलित तस्वीर उभरती है। वैदिक साहित्य नैतिक-दार्शनिक स्तर पर सशक्त, पारिस्थितिक स्तर पर अंतर्दृष्टि-संपन्न, सामाजिक स्तर पर सशर्त उपयोगी और नीति-क्रियान्वयन के स्तर पर अपर्याप्त है। यह निष्कर्ष न तो वैदिक परंपरा के अंध-प्रशंसक का है, न उसके अंध-आलोचक का।

9. समकालीन प्रासंगिकता और नीतिगत निहितार्थ

9.1 शिक्षा और मूल्य-निर्माण। पर्यावरण-शिक्षा में तथ्यों और तकनीकों के साथ मूल्य-बोध का समावेश आवश्यक है। पृथिवी-सूक्त, शान्ति-पाठ और ईशावास्य जैसे पाठ विद्यार्थियों में कृतज्ञता, संयम और उत्तरदायित्व का भाव जगाने के लिए साहित्यिक और सांस्कृतिक सामग्री का काम कर सकते हैं। पर इन्हें धार्मिक अनुष्ठान के रूप में नहीं, मूल्य-चिंतन के रूप में पढ़ाना अधिक उपयुक्त होगा।

9.2 सामुदायिक संरक्षण। देव-वनों और परंपरागत जल-संरचनाओं का अनुभव बताता है कि सांस्कृतिक महत्त्व से जुड़े स्थल संरक्षण की दृष्टि से मूल्यवान हैं [20, 28, 49]। नीति-निर्माण में इन संस्थाओं को औपचारिक मान्यता, कानूनी संरक्षण और समुदाय की भागीदारी देना उपयोगी हो सकता है।

9.3 सतत विकास की संकल्पना। ब्रंटलैंड की परिभाषा में अंतर-पीढ़ीगत न्याय का सिद्धांत निहित है [6]। वैदिक "त्याग-पूर्वक भोग" की नीति इसके मूल्यगत आधार के रूप में विचारणीय है। यह नीति-निर्माताओं को प्रेरित कर सकती है, पर कानून, तकनीक और अर्थशास्त्र का स्थान नहीं ले सकती।

9.4 अंतर-धार्मिक और वैश्विक संवाद। तुलनात्मक अध्ययन दिखाता है कि प्रत्येक परंपरा के पास पर्यावरण-संरक्षण के लिए कुछ साझा संसाधन हैं [47]। वैदिक परंपरा को इस वैश्विक संवाद में समान भागीदार के रूप में प्रस्तुत करना, न कि श्रेष्ठता के दावे के साथ, दीर्घकालिक दृष्टि से अधिक फलदायी होगा।

10. शोध की सीमाएँ

पहली सीमा यह है कि अध्ययन केवल चयनित पाठ-इकाइयों पर आधारित है। वैदिक वाङ्मय अत्यंत विशाल है, और सभी ग्रंथों का समान विस्तार से विश्लेषण इस पत्र की परिधि में संभव नहीं था। दूसरी, वैदिक ग्रंथों के काल-निर्धारण और अर्थ-निर्धारण पर विद्वानों में मतभेद हैं, जिससे कुछ निष्कर्ष सशर्त रहे। तीसरी, उत्तरवर्ती ग्रंथों (मनुस्मृति, पुराण, चरक संहिता आदि) को निरंतरता के प्रमाण के रूप में लिया गया है, पर वे वैदिक साहित्य नहीं हैं, और इस भेद को स्पष्ट रखा गया है। चौथी, यह साहित्यिक शोध है, इसलिए इसमें प्रयोगात्मक या क्षेत्र-आधारित प्रमाण नहीं जुटाए गए; उनके लिए द्वितीयक अध्ययनों पर निर्भरता रही। पाँचवीं, भाषिक सीमा के कारण अनेक क्षेत्रीय भाषाओं के स्रोत सम्मिलित नहीं हो सके।

11. निष्कर्ष

इस अध्ययन से पाँच प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं।

पहला, वैदिक साहित्य में पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और प्राणि-जगत के प्रति सम्मान और कृतज्ञता का भाव स्पष्ट और व्यापक है। पृथिवी-सूक्त की "माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः", ऋग्वेद 1.90 का समन्वित माधुर्य-चित्र और शान्ति-पाठ का सर्व-घटक शांति-आग्रह इसके सशक्त प्रमाण हैं [10, 11, 12]।

दूसरा, इस दृष्टि के पीछे तीन सैद्धांतिक आधार हैं: ऋत (सृष्टि-व्यवस्था), यज्ञ (आदान-प्रदान का चक्र) और त्याग-पूर्वक भोग (संयम)। ये तीनों मिलकर प्रकृति को उपभोग की वस्तु नहीं, सहभागी व्यवस्था का अंग बनाते हैं [11, 13, 37]।

तीसरा, तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक चिंतन जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लामी और आधुनिक गहन-पारिस्थितिकी परंपराओं के साथ कई साझा तत्त्व रखता है, और अपनी अलग विशिष्टताएँ भी: प्रकृति-तत्त्वों के लिए काव्यात्मक सूक्तों की प्रचुरता, प्राकृतिक और नैतिक व्यवस्था की एकता, और भू-मातृत्व की पारिवारिक कल्पना [41–47]।

चौथा, शोध-साहित्य की समीक्षा दिखाती है कि आस्था-आधारित संरक्षण-प्रथाएँ (देव-वन, जल-संरचनाएँ, वृक्ष-रक्षा) वास्तविक पारिस्थितिक मूल्य रखती हैं, पर धार्मिक श्रद्धा अकेले संरक्षण की गारंटी नहीं है, जैसा गंगा-यमुना के अध्ययन बताते हैं [20, 24, 25, 28]। वन-आच्छादन के समकालीन आँकड़े भी आदर्श और यथार्थ के अंतर को दर्शाते हैं [48]।

पाँचवाँ, विभिन्न दृष्टिकोणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक पर्यावरण-चिंतन को न तो अति-प्रशंसित करना उचित है, न उपेक्षित। उसकी वास्तविक शक्ति मूल्य-दृष्टि और प्रेरणा में है, और उसकी सीमा तकनीकी-संस्थागत समाधान के अभाव में।

इस प्रकार शोध-प्रश्नों के उत्तर और परिकल्पना की पुष्टि प्राप्त होती है। भविष्य के शोध के लिए तीन दिशाएँ सुझाई जा सकती हैं: (क) ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों का अधिक विस्तृत पर्यावरणीय पाठ-विश्लेषण; (ख) वैदिक-परंपरा से जुड़े समुदायों में मूल्य-आचरण संबंध का क्षेत्र-आधारित अध्ययन; और (ग) पर्यावरण-शिक्षा में वैदिक पाठों के प्रभाव का प्रायोगिक मूल्यांकन। वैदिक ऋषि की प्रार्थना, "सा मा शान्तिरेधि", केवल अपने लिए शांति की नहीं, समस्त सृष्टि की शांति की प्रार्थना है। पर्यावरण-संरक्षण का सार भी इसी में है कि हमारी अपनी शांति सृष्टि के हर घटक की शांति से अलग नहीं है।

संदर्भ

1. Winternitz M. A history of Indian literature. Volume 1. Calcutta: University of Calcutta; 1927.
2. Upadhyaya B. Vaidik sahitya aur sanskriti [Vedic literature and culture]. Varanasi: Sharada Mandir; 1958. Hindi.
3. Masson-Delmotte V, Zhai P, Pirani A, Connors SL, Péan C, Berger S, et al., editors. Climate change 2021: the physical science basis. Contribution of Working Group I to the Sixth Assessment Report of the Intergovernmental Panel on Climate Change. Cambridge: Cambridge University Press; 2021.
4. Carson R. Silent spring. Boston: Houghton Mifflin; 1962.
5. United Nations. Report of the United Nations Conference on the Human Environment, Stockholm, 5–16 June 1972. New York: United Nations; 1973.
6. World Commission on Environment and Development. Our common future. Oxford: Oxford University Press; 1987.
7. White L Jr. The historical roots of our ecologic crisis. Science. 1967;155(3767):1203-7.

8. Chapple CK, Tucker ME, editors. Hinduism and ecology: the intersection of earth, sky, and water. Cambridge (MA): Harvard University Press; 2000.
9. Sontakke NS, Kashikar CG, editors. Rgveda-samhita with the commentary of Sayanacarya. Poona: Vaidika Samsodhana Mandala; 1933–1951. Sanskrit.
10. Jamison SW, Brereton JP, translators. The Rigveda: the earliest religious poetry of India. New York: Oxford University Press; 2014.
11. Whitney WD, translator. Atharva-veda samhita. Lanman CR, editor. Cambridge (MA): Harvard University; 1905. (Harvard Oriental Series; vols. 7–8).
12. Griffith RTH, translator. The texts of the White Yajurveda. Benares: E.J. Lazarus; 1899.
13. Olivelle P, translator. The early Upanisads: annotated text and translation. New York: Oxford University Press; 1998.
14. Bhagwaddatta. Vaidik vangmay ka itihās [History of Vedic literature]. Delhi: Ramlal Kapoor Trust; 1978. Hindi.
15. Macdonell AA. Vedic mythology. Strassburg: Karl J. Trübner; 1897.
16. Dwivedi OP. Dharmic ecology. In: Chapple CK, Tucker ME, editors. Hinduism and ecology: the intersection of earth, sky, and water. Cambridge (MA): Harvard University Press; 2000. p. 3-22.
17. Nelson LE, editor. Purifying the earthly body of God: religion and ecology in Hindu India. Albany: State University of New York Press; 1998.
18. Callicott JB, Ames RT, editors. Nature in Asian traditions of thought: essays in environmental philosophy. Albany: State University of New York Press; 1989.
19. Gadgil M, Guha R. This fissured land: an ecological history of India. Delhi: Oxford University Press; 1992.
20. Gadgil M, Vartak VD. Sacred groves of India: a plea for continued conservation. J Bombay Nat Hist Soc. 1975;72(2):314-20.
21. Gadgil M, Berkes F, Folke C. Indigenous knowledge for biodiversity conservation. Ambio. 1993;22(2-3):151-6.
22. Guha R. The unquiet woods: ecological change and peasant resistance in the Himalaya. Delhi: Oxford University Press; 1989.
23. Jain P. Dharma and ecology of Hindu communities: sustenance and sustainability. Farnham: Ashgate; 2011.
24. Alley KD. On the banks of the Ganga: when wastewater meets a sacred river. Ann Arbor: University of Michigan Press; 2002.
25. Haberman DL. River of love in an age of pollution: the Yamuna River of northern India. Berkeley: University of California Press; 2006.
26. Shiva V. Staying alive: women, ecology and development. London: Zed Books; 1988.
27. Agarwal B. The gender and environment debate: lessons from India. Fem Stud. 1992;18(1):119-58.
28. Mishra A. Aaj bhi khare hain talab [Ponds are still relevant today]. New Delhi: Gandhi Peace Foundation; 1993. Hindi.
29. Olivelle P, translator. The law code of Manu. Oxford: Oxford University Press; 2004.
30. Shastri H, translator. Manusmriti, with the commentary of Kullukabhatta and Hindi translation. Varanasi: Chaukhamba Sanskrit Series Office; 1982. Sanskrit and Hindi.
31. Sharma RK, Dash B, translators. Agnivesa's Caraka Samhita: text with English translation and critical exposition based on Cakrapani Datta's Ayurveda Dipika. Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series Office; 1976–2002.
32. Shastri K, Chaturvedi G, editors. Charaka Samhita, with Vidyotini Hindi commentary. Varanasi: Chaukhamba Bharati Academy; 2005. Sanskrit and Hindi.
33. Ganguli KM, translator. The Mahabharata of Krishna-Dwaipayana Vyasa. Calcutta: Bharata Press; 1883–1896.

34. A Taluqdar of Oudh, translator. The Matsya Purana. Allahabad: Panini Office; 1916–1917. (Sacred Books of the Hindus; vol. 17).
35. Sadhale N, translator. Surapala's Vrksayurveda (the science of plant life by Surapala). Secunderabad: Asian Agri-History Foundation; 1996. (Agri-History Bulletin; no. 1).
36. Bhat MR, translator. Varahamihira's Brhat Samhita. Delhi: Motilal Banarsidass; 1981.
37. Goyandka J. Srimadbhagavadgita tattvavivecani [Exposition of the Bhagavadgita]. Gorakhpur: Gita Press; 1993. Hindi.
38. Kane PV. History of Dharmasastra: ancient and mediaeval religious and civil law. Volume 1. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute; 1930.
39. Kangle RP. The Kautilya Arthashastra. Part 2: an English translation with critical and explanatory notes. Bombay: University of Bombay; 1963.
40. Wilson HH, translator. The Vishnu Purana: a system of Hindu mythology and tradition. London: John Murray; 1840.
41. Tatia N, translator. That which is: Tattvartha Sutra of Umasvati. San Francisco: HarperCollins; 1994.
42. Tucker ME, Williams DR, editors. Buddhism and ecology: the interconnection of dharma and deeds. Cambridge (MA): Harvard University Press; 1997.
43. Hessel DT, Ruether RR, editors. Christianity and ecology: seeking the well-being of Earth and humans. Cambridge (MA): Harvard University Press; 2000.
44. Foltz RC, Denny FM, Baharuddin A, editors. Islam and ecology: a bestowed trust. Cambridge (MA): Harvard University Press; 2003.
45. Naess A. The shallow and the deep, long-range ecology movement: a summary. Inquiry. 1973;16(1-4):95-100.
46. Leopold A. A Sand County almanac and sketches here and there. New York: Oxford University Press; 1949.
47. Gottlieb RS, editor. This sacred Earth: religion, nature, environment. New York: Routledge; 1996.
48. Forest Survey of India. India state of forest report 2021. Dehradun: Forest Survey of India, Ministry of Environment, Forest and Climate Change; 2021.
49. Malhotra KC, Gokhale Y, Chatterjee S, Srivastava S. Cultural and ecological dimensions of sacred groves in India. New Delhi: Indian National Science Academy; 2001.